श्री आत्मारामजी तथा ईसाई मिशनरी

प्रा. पृथ्वीराज जैन, एम्. ए., शास्त्री

पुर्तगाल निवासी साहसी नाविक वास्को-दे-गामा ने आशा-अन्तरीप का चक्कर लगाते हुए भारत पहुंचने का नया समुद्री मार्ग खोज निकाला और उस का जहाज़ २२ मई १४९८ ई० को मालाबार तट पर कालीकट के पास आकर ठहरा। वहां के राजा ज़मोरिन ने उस का साथियों सहित स्वागत किया और उन्हें वहां रहने तथा व्यापार करने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार युरोपियन भारत में आने लगे। ये ईसाई धर्म के मानने वाले थे। धीरे धीरे दूसरी युरोपीय जातियां भी भारत में आईं और उन्हों ने अपनी व्यापारिक कोठियों की स्थापना की। परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्हों ने अपनी राजनैतिक सत्ता भी स्थापित की और कई नगरों पर अधिकार कर लिया। पुर्तगालियों में धर्म की कट्टरता अधिक थी। वे प्रजा को ज़बर्दस्ती ईसाई बना लेना अपना कर्त्तव्य समझते थे। यद्यपि युरोपीय लोगों का १५०० ई० के लगभग नए मार्ग से भारत में आगमन शुरु हो गया था और वे अपने धर्म प्रचार के काम को भी उत्साहपूर्वक करते थे, तथापि १८०० ई० तक भारत में इस धर्म का प्रचार अधिक न हो सका[1]। जनता इन पर विश्वास न रखती थी। यह नया धर्म यहां के आदर्शों के अनुकूल भी न था। अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी की राजनैतिक सत्ता १७५७ ई० की प्लासी की लड़ाई के बाद उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और दूसरी जातियां इस क्षेत्र में हार गईं। प्रारम्भ में कम्पनी सरकार धर्म के विषय में हस्तक्षेप करने से संकोच करती थी। उसे अपने व्यापारिक हितों की चिन्ता अधिक थी। कम्पनी सरकार ने कुछ ऐसे नियम भी बनाए थे जिन के अनुसार कोई कर्मचारी न तो भारतीय धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप कर सकता था और न ही बाहर से कोई धर्मप्रचार के लिए आ सकता था।

अंग्रेजों की पहली व्यापारिक कोठी सूरत में सम्राट् जहांगीर की इज़ाज़त से १६१३ ई० में खुली। धीरे धीरे उन्हों ने मुग़ल सम्राटों को प्रसन्न कर व्यापार के लिए कई सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। किन्तु शुरु में अंग्रेज व्यापारियों का सदाचार और व्यवहार अत्यन्त गिरा हुआ था। धोखा और बेईमानी इन की व्यापारिक नीति के मुख्य सिद्धान्त थे। उन के व्यवहार को देख कर भारतवासी ईसाई धर्म को भी बुरा समझने लगे। एक लेखक ने लिखा है, "भारतवासी ईसाई धर्म को बहुत गिरी हुई चीज़ ख्याल करते थे। सूरत में लोगों के मुंह से इस प्रकार के वाक्य प्रायः सुनने में आते थे कि 'ईसाई धर्म शैतान का धर्म है, ईसाई बहुत शराब पीते हैं, ईसाई बहुत बदमाशी करते हैं, और बहुत मारपीट करते हैं, दूसरों को बहुत गालियां देते हैं।' टेरी साहिब ने इस बात को स्वीकार किया है कि भारतवासी स्वयं बड़े सच्चे और ईमानदार थे और अपने तमाम वादों को पूरा करने में पक्के थे। किन्तु यदि कोई भारतीय व्यापारी अपने माल की कुछ कीमत बताता था और उस कीमत से बहुत कम ले लेने के लिये उस से कहा जाता था तो वह प्रायः उत्तर देता था—'क्या तुम मुझे ईसाई समझते हो, जो मैं तुम्हें धोखा देता फिरूंगा[2]?"

---

१. इतिहास में तो इस बात के भी प्रमाण विद्यमान हैं कि ईसाई प्रचारक ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में ही दक्षिण भारत में आए थे।

२. पं. सुन्दरलाल : भारत में अंग्रेजी राज—पृष्ठ १८-१९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संभव है इस प्रकार के अपयश और अपमान से भयभीत हो कर ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों ने धर्म के विषय में मौन रहने की नीति हितकर समझी हो। किन्तु १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही इस नीति में परिवर्तन हो गया।

मार्क्विस वेल्सली भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त होने के बाद १७६८ ई० में कलकत्ते पहुंचा। वह महान् ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के स्वर्ण स्वप्न ले कर भारत में आया था। वह इंग्लैंड में ही इस विषय पर मनन व अध्ययन करता रहा था तथा प्रधान मन्त्री पिट से इस सम्बन्ध में कई दिन तक विचारविनिमय भी होता रहा था। शुद्ध राजनैतिक उद्देश्य के अतिरिक्त उस की यह भी उत्कट अभिलाषा थी कि भारत में ज़ोरों से ईसाई धर्म का प्रचार शुरू किया जाए। "उस ने आते ही ईसाई धर्म के अनुसार अंग्रेज़ी इलाके के अन्दर रविवार की छुट्टी का मनाया जाना जारी किया। उस दिन समाचार पत्रों का छपना भी कानून् बन्द कर दिया गया। कलकत्ते के फोर्ट विलियम में उस ने एक कालेज की स्थापना की। इस कालेज का एक उद्देश्य विदेशी सरकार के लिए सरकारी नौकर तय्यार करना था। वेल्सली के जीवनचरित्र का रचयिता आर. आर. पीयर्स साफ़ लिखता है कि यह कालेज भारतवासियों में ईसाई धर्म को फैलाने का भी मुख्य साधन था। इस के द्वारा भारत की सात भिन्न भिन्न भाषाओं में इंजील का अनुवाद करा कर उस का भारतवासियों में प्रचार कराया गया।...उस की इस ईसाई धर्मनिष्ठा के लिए अंग्रेज़ इतिहास लेखक प्रायः उस की प्रशंसा करते हैं[1]।"

इस प्रकार अब ईस्ट इंडिया कम्पनी साम्राज्य विस्तार के साथ साथ ईसाई धर्म का प्रचार भी उत्साह-पूर्वक करने लगी। १८१३ ई० के चार्टर में यह स्पष्ट कर दिया गया कि कम्पनी भारत में धर्म और सदा-चार की शिक्षा का प्रचार करना आवश्यक समझती है तथा इस लोककल्याण के कार्य के लिए लोग कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों में जा सकेंगे। ईसाई धर्म की अनेक पुस्तकों का विविध भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराया गया। भिन्न भिन्न विषयों पर ईसाई मिशनरी सोसाइटियों ने पाठ्यपुस्तकें भी तय्यार करवाईं। ईसाई धर्म के प्रचार के लिए पानी की तरह रुपया बहाया जाने लगा। जगह जगह प्रारंभिक पाठ-शालाएं, अनाथालय, औषधालय आदि खोले गए और भारतीय समाज की सामाजिक बुराइयों से पूरा पूरा लाभ उठाया गया। धार्मिक पुस्तकें मुफ्त बांटी गईं। भारत के धर्मों पर अनेक आक्षेप कर उन्हें हेय बताया गया। फलस्वरूप बहुत से भारतीय ईसाई बन गए। १८५७ ई० में भारत में जो प्रथम सशस्त्र स्वतन्त्रता युद्ध प्रारंभ हुआ, उस का एक मुख्य कारण भारतवासियों को ईसाई बनाने की आकांक्षा और भारतीय सैनिकों में ईसाई मत का प्रचार था। इस अशान्ति से पहले कई अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ समझते थे कि भारतीयों के ईसाई हो जाने में ही अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थिरता का आधार है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अध्यक्ष मिस्टर मैङ्गल्स ने विप्लव से कुछ समय पहले १८५७ ई० में ही पार्लिमैंट में कहा था, "परमात्मा ने भारत का विशाल साम्राज्य इङ्गलिस्तान को इसलिए सौंपा है ताकि हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसा मसीह का विजयी झंडा फहराने लगे। हम में से हरेक को पूरी शक्ति इस काम में लगा देनी चाहिये ताकि समस्त भारत को ईसाई बनाने के महान् कार्य में देश भर के अन्दर कहीं पर भी किसी कारण ज़रा भी ढील न होने पाये[2]।"

प्रायः उसी समय एक अन्य अंग्रेज़ विद्वान् कैनेडी ने लिखा था, "हम पर कुछ भी आपत्तियां क्यों

१. पं. सुंदरलाल : भारत में अंग्रेजी राज—पृष्ठ ४३५.

२. पं. सुंदरलाल : भारत में अंग्रेजी राज—पृष्ठ १३७०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न आएं, जब तक भारत में हमारा साम्राज्य कायम है, तब तक हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारा मुख्य कार्य उस देश में ईसाई मत को फैलाना है। जब तक रासकुमारी से लेकर हिमालय तक सारा हिन्दुस्तान ईसा के मत को ग्रहण न कर ले और हिन्दु व इस्लाम धर्मों की निन्दा न करने लगे तब हमें पूरी सत्ता, अधिकार व शक्ति से लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिये[1]।"

सन् १८०६ ई० में वेलोर में सैनिकों का जो विद्रोह हुआ था, उस का कारण भी मद्रास के तत्कालीन गवर्नर विलियम बेंटिङ्क का सेना में ईसाई मत के प्रचार का प्रयत्न था। उस ने दूबॉए नामक एक फ्रांसीसी पादरी को आठ हज़ार रुपए नकद दे कर भारतवासियों के धार्मिक और सामाजिक जीवन पर एक पुस्तक लिखवाई जिस में अनेक झूठी बातों का संग्रह था। सरकारी खर्च पर इंगलैंड में इस पुस्तक का खूब प्रचार कराया गया। जब वह पादरी फ्रांस वापिस गया, तो ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उसे एक विशेष आजीवन पैंशन दी।[2] ईसाई प्रचारकों को सब सुविधाएं दी जाती थीं। सरकारी छापखाने उन का काम मुफ्त कर देते थे। सैनिकों को यह आज्ञा दी गई कि वे वरदी पहने हुए अपने माथे पर तिलक आदि धार्मिक चिह्न न लगाएं, दाढ़िया मुंडवा दें और सब एक तरह की कटी हुई मूंछें रखें। बेंटिङ्क १८३२ ई० में गवर्नर जनरल बना। उस समय यह कानून बना कि जो भारतवासी ईसाई हो जाएंगे, उन का पैतृक संपत्ति पर पूर्ववत् अधिकार बना रहेगा। लार्ड कैनिंग ने लाखों रुपए ईसाई मत प्रचारकों में बांटे थे। सरकारी खज़ाने से बिशपों को बड़े बड़े वेतन मिलते और उच्च अधिकारी अधीनस्थ कर्मचारियों पर ईसाई होने के लिए अनुचित दबाव डालते। पंजाब पर अधिकार हो जाने के बाद यह कोशिश की गई कि पंजाब में शिक्षा का सारा काम ईसाई पादरियों को सौंप दिया जाए। सेना में ईसाई धर्मप्रचार विशेष उत्साह से किया जाता था। धर्म परिवर्तन करने वाले सैनिकों को तत्काल उच्च पद दे दिया जाता था।

१८५७ ई० के अशांत वातावरण के बाद अंग्रेज़ कूटनीतिज्ञ इस बात का विशेष अनुभव करने लगे कि भारतवासियों के हृदय से राष्ट्रीयता के रहेसहे भाव भी समाप्त कर दिए जाएँ ताकि अंग्रेज़ी साम्राज्य की नींव सुदृढ़ रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो उपाय सोचे गए—भारत में ईसाई मत का प्रचार और अंग्रेज़ी शिक्षा दीक्षा। यद्यपि महारानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में यह वचन दिया था कि अंग्रेज़ी सरकार धर्म के विषय में पक्षपात या हस्तक्षेप न करेगी, तथापि एक वर्ष के बाद ही इंगलैंड के प्रधानमन्त्री ने पादरियों के एक शिष्टमंडल से कहा, "समस्त भारत में पूरब से पच्छिम तक और उत्तर से दक्खिन तक ईसाई मत के फैलाने में जहां तक हो सके मदद देना न केवल हमारा कर्त्तव्य है, बल्कि इसी में हमारा लाभ है[3]।"

ईसाई पादरी भारत के भोलेभाले अनपढ़ लोगों में किस चालाकी से अपने धर्म का प्रचार किया करते थे, इसका कुछ वर्णन स्वामी विवेकानन्द जी ने सर्वधर्म परिषद् चिकागो के अपने भाषण में किया था। उन्हों ने कहा, "मैं जब बालक था, तब मुझे याद है कि भारतवर्ष में एक ईसाई किसी भीड़ में अपने धर्म का उपदेश कर रहा था। दूसरी मीठी बातों के साथ उस ने अपने श्रोताओं से पूछा, 'यदि मैं तुम्हारे देवता की मूर्ति को लाठी मारूं तो वह मेरा क्या बिगाड़ सकता है।' इस पर एक श्रोता ने उलट कर उस से प्रश्न किया, 'यदि मैं तुम्हारे ईश्वर को गाली दूं, तो वह मेरा क्या कर सकता है?' ईसाई

---

१. पं. सुंदरलाल : भारत में अंग्रेज़ी राज:—पृष्ठ १३७१.

२. Encyclopaedia Britannica vol. viii, page 624, 11th edition.

३. पं० सुंदरलालजी : भारत में अंग्रेज़ी राज—पृष्ठ १६६०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेशक ने उत्तर दिया, 'जब तुम मरोगे, तब तुम्हें दंड मिलेगा।' तब उस आदमी ने प्रत्युत्तर दिया, 'ऐसे ही जब तुम मरोगे तब तुम्हें भी मेरे देवता दंड देंगे'[1]।

उपर्युक्त वर्णन उस पृष्ठ भूमि का है जिसे सन्मुख रखते हुए हमारे १६ वीं शताब्दी के सुधारकों को कार्य करना था। भारत का सौभाग्य है कि उसे ऐसे नररत्न प्राप्त हुए जिन्हों ने भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा कर हमारी राष्ट्रीय भावना को पुष्ट किया। श्री आत्माराम जी ईसाई मिशनरियों की युक्तियों, प्रचार के ढंगों और उनके उद्देश्यों से सुपरिचित थे। वे इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे कि "कितने ही ईसाई जन प्रमाण और युक्ति के ज्ञान के अभाव में और अपने पंथ के चलाने वाले ईसा मसीह के अनुराग से अपने ही स्वीकृत धर्म को सत्य मानते हैं और कितने ही आर्यावर्त के रहने वालों को जिन की बुद्धि सत्य धर्म में पूरी निपुण नहीं है, अपने मत का उपदेश करते हैं।[2]" श्री आत्माराम जी ने उन कारणों का विश्लेषण किया था जिन के आधार पर भारतीय युवक धड़ाधड़ ईसाई बन रहे थे। उन्हों ने लिखा है, "निर्धन धन के लोभ से, कंवारे व रंडे विवाह के लोभ से, कुछ खानपान संबंधी स्वतन्त्रता के लोभ से, कुछ हिन्दुओं के देवों व उन की मूर्तियों की अटपटी रीति भांति देखने से ईसाई होते जाते हैं।"[3] एक और स्थान पर वे इसी विषय की चर्चा करते हुए लिखते हैं, "युरोपियन लोकों ने हिन्दुस्थान में ईसाई मत का उपदेश करना शुरु किया हैं। उपदेश से, धन से, स्त्री देने से, लोगों को अपने मत में बेपटिज्म देके मिलाते है।"[4].

भारतीय युवकों को ईसाई होने से बचाने के लिए हमारे तत्कालीन सुधारकों ने बड़े साहस व कौशल से काम किया। श्री आत्माराम जी भी स्वयं इस कार्यक्षेत्र में काम करते रहे। गुजराती भाषा में एक पादरी ने एक पुस्तक लिखी थी जिस के द्वारा जैन धर्म के विषय में भ्रांतियां फैलाई गई थीं। आप ने उस के उत्तर में एक खोजपूर्ण पुस्तक लिखी जिस का नाम था 'ईसाई मत समीक्षा'। आप ने ब्रह्मसमाज और आर्य समाज द्वारा इस विषय में किए गए कार्य को भी स्वीकार किया है। आप ने लिखा है, "ईसा के मत में बहुत अंग्रेज़ी फारसी के पढने वाले लोक हैं। वे कदाग्रह से लोकों से मत की बाबत झगड़ते फिरते हैं। परन्तु ब्रह्मसमाजियों ने और दयानन्द जी ने कितनेक हिन्दुओं को ईसाई होने से रोका है[5]।"

श्री आत्माराम जी अंग्रेज़ी पढ़ेलिखे युवकों से प्रायः कहा करते थे, "होश में आओ। तुम कौन हो और किधर जा रहे हो? तुम्हारे पूर्वजों का चरित्र तुम्हारे लिए प्रकाशमान दीपक के समान है। उन के महान् कार्यों को पढ़ो। तब तुम्हें ज्ञात होगा कि पूर्व ने पश्चिम को अपने प्रकाश से किस प्रकार लाभ पहुंचाया है। तुम्हें पूर्व की ओर देखना चाहिए जहां से सूर्य देवता अपना प्रकाश डालता है, न कि पश्चिम की और जिधर वह अस्त होता है। ईसाई मिशनरियों की चिकनीचुपड़ी बातों में मत आओ। वे तुम्हारे धर्म को अपमानित कर रहे हैं और तुम्हारी सभ्यता का परिहास कर रहे हैं। उन के मिथ्या प्रचार से बचने के लिए धर्म उपदेश सुनो और अपनी धार्मिक पुस्तकों को ध्यानपूर्वक पढ़ो।[6]"

---

१. The World's Parliament of Religions, vol. ii, p. 975.

२. ईसाई मत समीक्षा—पृ. २.

३. ईसाई मत समीक्षा—पृ. २-३.

४. अज्ञानतिमिर भास्कर—पृ. २६७.

५. अज्ञानतिमिर भास्कर—पृ. २६८.

६. ला० बाबूराम : आत्मचरित्र (उर्दू) पृ. ११२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहमदाबाद के एक सेठ दलपत भाई की एक धनिक वैष्णव से मित्रता थी। उस का बड़ा लड़का ग्रैजुएट था और पश्चिमीय सभ्यता के कुसंस्कारों से प्रभावित हो कर पादरियों की चाल में आ गया था। कुसंगति ने उस में शराब व मांस की बुरी आदत भी डाल दी थी। उसे आचार से पतित देख कर माता-पिता बहुत व्यथित हुए। उन्हों ने सेठ दलपत भाई को अपनी व्यथा सुनाई। सेठजी ने श्री आत्माराम जी के विषय में उन्हें बताया और कहा कि किसी प्रकार लड़के को इन के पास ले जाओ। वे अपने पुत्र को आप के पास ले आए। कुछ मिनटों के उपदेश ने ही ऐसा चमत्कारी प्रभाव डाला कि वह लड़का कुसंगति से हमेशा के लिए बच गया।[1]

वि. सं. १९४२ के सूरत के चतुर्मास के बाद अहमदाबाद से सेठ दलपतभाई का श्री आत्मारामजी के नाम एक पत्र आया था। उस पत्र में सेठ जी ने लिखा था कि कुछ कुलीन और अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त नवयुवक पादरियों के बहकाने से ईसाई होने वाले हैं। आप शीघ्र अहमदाबाद पधारने की कृपा करें। पत्र मिलते ही आप बड़ौदा से विहार कर अहमदाबाद पहुंचे और ईसाई मिशनरियों की चालों पर एक सार्वजनिक सभा में भाषण दिया। आप ने उस व्याख्यान में यह सिद्ध किया कि ईसाई मत में जितनी खूबियां हैं, वे सब जैन धर्म से ली गई हैं। आप ने बाइबल के कई उद्धरण जनता के सामने रखे जिन का सब पर बड़ा प्रभाव पड़ा। आप ने उन्हें बताया कि पादरी संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण भारतीय धार्मिक साहित्य को समझने में असमर्थ हैं और कपोलकल्पना कर हंसी उड़ाते हैं। बाइबल में कई ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जो संभव नहीं। जो लोग शीशे के मकानों में रहते है, उन्हें दूसरों पर पत्थर नहीं फैंकने चाहिएँ। समझदार लोगों को ईसाई बनने से पहले अपने साहित्य और इतिहास की उन के साहित्य व इतिहास से तुलना अवश्य करनी चाहिए, तब उन्हें सचाई का ज्ञान होगा। आप के सत् परामर्श का बहुत प्रभाव पड़ा और कई नवयुवक ईसाई होने से बच गए।

इस प्रकार श्री आत्माराम जी ने इस बात का अनथक परिश्रम किया कि भारतीय युवक विवेक खोकर ईसाई मिशनरियों के झूठे जाल में न फंसें। यदि उन्हें अध्ययन द्वारा ईसाई धर्म अच्छा प्रतीत होता है तो उन का कर्त्तव्य है कि वे पहले अपने धर्मशास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन अवश्य कर लें ताकि ठीक ठीक तुलना हो सके और वे सचाई के ज्ञान से अनभिज्ञ न रहें। श्री आत्माराम जी ने तत्कालीन अन्य सुधारकों के समान भारतीय धर्म, दर्शन तथा इतिहास पर पश्चिम से होने वाले आक्रमणों का डट कर सामना किया और सच्ची भारतीय सभ्यता व संस्कृति का चित्र विश्व के सामने रखा।

यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि ईसाई मिशनरियों ने समाजसेवा के बहाने भारतीय लोगों को ईसाई बनाने का काम फिर भी जारी रखा। महात्मा गांधी भी इन के कामों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। उन्हों ने एक बार लिखा था—"विदेशी मिशनरियों के विषय में मेरे विचार किसी से छिपे नहीं हैं। मैंने कई बार मिशनरियों के सामने अपने विचार प्रगट किए हैं। यदि विदेशी मिशनरी शिक्षा और चिकित्सासंबन्धी सहायता जैसे मानवीय सहानुभूति के कामों तक अपनी प्रवृत्तियों को सीमित करने के स्थान पर उन्हें दूसरों का धर्म छुड़ाने के लिए काम में लाएंगे तो मैं दृढ़तापूर्वक उन्हें कहूंगा कि वे चले जाएँ। हरेक जाति अपने धर्म को दूसरे धर्म के समान अच्छा समझती है। भारत की जनता के धर्म निश्चयपूर्वक उन के लिये पर्याप्त हैं। भारत को एक धर्म की अपेक्षा दूसरे धर्म की श्रेष्ठता की आवश्यकता नहीं।"[2] इसी लेख में उन्हों ने आगे जा कर लिखा था, "धर्म एक व्यक्तिगत विषय

१. आत्मचरित्र (उर्दू) पृ. ११३.

२. Young India, April 23, 1921

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उस का संबन्ध हृदय से है। क्योंकि एक डाक्टर ने जो अपने आप को ईसाई कहता है, मेरे किसी रोग की चिकित्सा कर दी तो उस का अर्थ यह क्यों हो कि डाक्टर मुझे अपने प्रभाव के अधीन देख कर मुझ से धर्म परिवर्तन की आशा रखे? क्या रोगी का स्वस्थ हो जाना और उस के परिणाम से सन्तुष्ट होना ही काफ़ी नहीं? फिर यदि मैं ईसाइयों के किसी स्कूल में पढ़ता हूं तो मुझपर ईसाइयत की शिक्षा क्यों ठोसी जाए? मैं धर्म परिवर्तन के विरुद्ध नहीं। किन्तु उस के वर्तमान ढंग के विरुद्ध हूं। आजतक धर्मपरिवर्तन एक धन्धा बना रहा है। मुझे याद है कि मैंने एक मिशनरी की रिपोर्ट पढ़ी थी। उस में उस ने बताया था कि एक व्यक्ति का धर्म बदलने पर कितने रुपए का खर्च होता है। यह रिपोर्ट पेश करने के बाद उस ने 'भावी फसल' के लिए बजट पेश किया था।"

खेद की बात तो यह है कि भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी इस संबन्ध में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। २२ और २३ एप्रिल १९५३ ई० को केन्द्रीय लोक सभा में जो बहस हुई और भारत के गृहमन्त्री ने जो विज्ञप्ति दी, उस से यह सुस्पष्ट है कि ईसाई मिशनरी अब भी पुरानी चालों से काम ले कर लोगों को बहका रहे हैं। इस बहस से कुछ दिन पहले हमारे प्रधानमन्त्री पं० नेहरू ने आसाम की आदिम जातियों के प्रदेश में भ्रमण किया था। उन्हें पता चला कि विदेशी ईसाई मिशनरी समाज सेवा की आड़ ले कर सरकार के विरुद्ध विषैला राजनैतिक प्रचार कर रहे हैं। उन्हों ने इसकी निन्दा की। उस के बाद तत्कालीन गृहमंत्री डॉक्टर कैलाशनाथ कटजू ने कठोर शब्दों में उन्हीं प्रवृत्तियों का वर्णन किया। यही दशा उड़ीसा, मध्यप्रदेश और बिहार के कुछ प्रदेशों में है। विदेशी ईसाई मिशनरी उन स्थानों में स्कूल और औषधालय खोलने का नाम ले कर जाते हैं। लेकिन इस परदे के पीछे वे दूसरे धर्मों पर कीचड़ उछालते हैं। और वहां के निवासियों का धर्म परिवर्तित करने की कोशिश करते हैं। इसके अतिरिक्त राजनैतिक दृष्टि से नयी दलबन्दी का प्रयत्न भी करते रहते हैं। केन्द्रीय सरकार का ध्यान इस ओर गया है और आशा है कि राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द तथा श्री आत्मारामजी द्वारा प्रारंभ किए गए कार्य का शीघ्र ही मधुर परिणाम होगा तथा समाज सेवा के कामों को अपने धर्मप्रचार की सीढ़ी न बनाया जाएगा।

(लेखक के श्री आत्मारामजी के एक खोजपूर्ण अप्रकाशित जीवनचरित्र से)

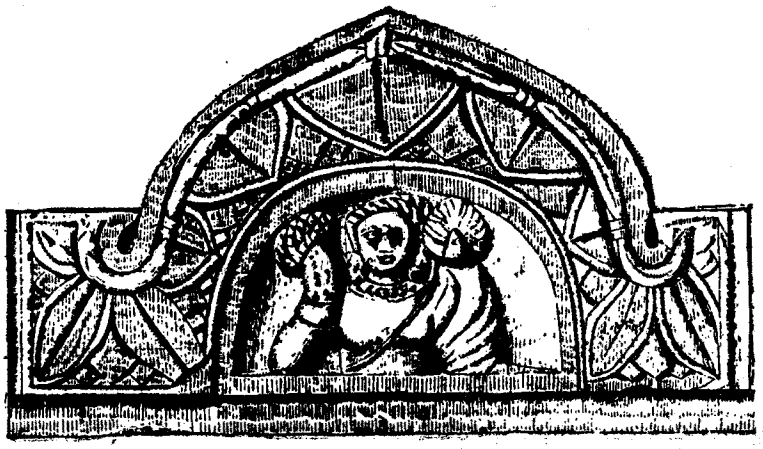

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org